आलोचना प्रकृति और परिवेश





प्रकाशक अक्षर प्रकाशन प्रा० लिमिटेड
२/३६, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली ६



मूल्य बारह रुपये



प्रथम संस्करण १९६६



आवरण नरेन्द्र श्रीवास्तव



मुद्रक अग्रेशिया प्रिंटर्स,
६/१, दरेसी नं० २, आगरा ४



पुस्तकबन्ध अग्रेशिया बाइण्डर्स,
दरेसी नं० २, आगरा ४

डा० तारकनाथ बाली

आलोचना : प्रकृति और परिवेश

प्रिय टुन्नू,

वह शाम
जब तुम्हारा प्रिय गुलाब अन्तिम बार
मुसकराया था
ज़िन्दगी पर छा गयी है
तब से
धरती माँ ने वे फूल नहीं उपजाये
जो तुम्हारे प्रिय हों!

दो शब्द

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में तथ्य-सकलन का कार्य विशेष मात्रा में हो चुका है। पुराने तथ्यों की कुछ नयी व्याख्याएँ भी हुई हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि नयी विचार-भूमियों की खोज की जाय। इसी दिशा में यह एक विनम्र प्रयास है।

दो शब्द

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे तथ्य-सकलन का काय विशेप मात्रा मे हो चुका है। पुराने तथ्यो की कुछ नयी व्याख्याएँ भी हुई हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि नयी विचार-भूमियो की खोज की जाय। इसी दिशा मे यह एक विनम्र प्रयास है।

अनुक्रम

परिप्रेक्ष्य

साहित्य व्यक्ति का सामाजिक कर्म है जो विशिष्ट रूप में सम्पन्न होता है। साहित्य, सामाजिकता और रूप तीनों का प्रमुख केन्द्र व्यक्तित्व प्रतीत होता है। इसलिए बुनियादी सवाल है व्यक्तित्व क्या है ?

व्यक्तित्व सामाजिकता का विरोधी तत्त्व नहीं है। वह सामाजिकता का पूरक भी नहीं है। वह तो सामाजिकता का अंश है। समाज की अभिव्यक्ति का माध्यम है।

समाज जीता है मगर उसके जीने का कोई सीधा-सरल रूप नहीं होता। समाज बोलता है, मगर उसकी वाणी आसानी से समझ में नहीं आती। कारण यह है कि उसकी आवाज प्रधान रूप से कर्मों की आवाज है, घटनाओं की आवाज है। और इस आवाज को हर कोई समझ नहीं सकता। वही व्यक्ति उसकी आवाज़ को समझ सकता है जो अपने आपको उससे मिला लेता है जो अपने व्यक्तित्व को समाज के प्रति समर्पित कर देता है। इसलिए हर समाज कर्मी का व्यक्तित्व समर्पित व्यक्तित्व होता है। समाज-कर्मी होने के नाते कलाकार का व्यक्तित्व भी समर्पित व्यक्तित्व होता है।

समाज एक जटिल और विराट संस्था है। उसमें अनेक विचार दृष्टियाँ और जीवन रीतियाँ होती हैं। जीवन की इन दृष्टियों और रीतियों में भिन्नता भी दिखायी देती है और विरोध भी। इसलिए प्रायः एक व्यक्ति पूरे समाज के प्रति व्यक्तित्व का समर्पण नहीं करता। उसके एक अंश के प्रति ही उसका व्यक्तित्व समर्पित होता है। और फिर समाज का वह अंश उसके व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होता है, रूप धारण करता है। जो व्यक्ति जितनी व्यापक सामाजिकता को रूप प्रदान करता है, उसका व्यक्तित्व उतना ही गौरवशाली और स्थायी होता है।

मानव-स्वभाव के दो अंश हैं। एक प्राकृतिक और निजी अंश है, दूसरा सामाजिक अंश है। सेक्स आदि प्राकृतिक भूखों की समष्टि ही निजी अंश है। सामाजिक अंश में व्यक्ति का सारा सामाजिक व्यवहार—वह व्यवहार जो वह समाज के प्रति करता है तथा वह व्यवहार जिसके साथ सामाजिक दायित्व

जुड़ा हुआ है सम्मिलित है। यहां देखना यह है कि मानव-स्वभाव के निजी अंश और सामाजिक अंश का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

वास्तव में व्यक्तित्व का निजी अंश और सामाजिक अंश दो स्वतन्त्र सत्ताएं नहीं हैं। दोनों सम्बद्ध हैं। दोनों की सम्बद्धता की व्यवस्था में ही व्यक्तित्व स्थित होता है। यह विश्लेषण व्यावहारिक सुविधा के लिए वैचारिक धरातल पर किया गया है।

सेक्स आदि प्राकृतिक भूखें निजी अंश के अन्तर्गत मानी गयी हैं। लेकिन क्या आज की जटिल सामाजिक व्यवस्था में रहने वाला व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि सेक्स की तृप्ति उसका बिलकुल निजी व्यापार है जो समाज से अछूता है ? यह स्पष्ट है कि एक सामान्य व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता। सेक्स की तृप्ति चाहे उन्मुक्त प्रणय सम्बन्ध द्वारा हो चाहे विवाह द्वारा दोनों ही परिस्थितियों में उसका एक सामाजिक पक्ष होता है। उन्मुक्त प्रेम के उदय के मूल में भी कुछ सामाजिक कारण होते हैं उसके कुछ सामाजिक प्रभाव पड़ते हैं और इस प्रकार यथार्थ में वह प्रेम उन्मुक्त नहीं हुआ करता। जहाँ तक विवाह का सवाल है वह तो एक सामाजिक संस्था है जिसके कई पक्ष और आयाम हैं और इस प्रकार विवाह सेक्स की तृप्ति करता हुआ भी एक सामाजिक कर्म है।

पेट भरने की समस्या को ही लीजिए। भूख एक प्राकृतिक वृत्ति है। लेकिन भूख को दूर करने के लिए आज का मनुष्य जो कार्य करता है वह सामाजिक कार्य है। वह चोरी के द्वारा भी पेट भर सकता है और किसी काम धन्धे के द्वारा भी। ये दोनों ही कर्म भूख को तृप्त करते हैं मगर उनका अपना एक सामाजिक रूप है। चोरी या नौकरी दोनों ही सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले व्यापार हैं और फिर प्रत्येक व्यापार के अपने सम्बन्ध हैं जो उसको अन्य सामाजिक संस्थाओं आवश्यकताओं या सीमाओं के साथ जोड़ते हैं। इस प्रकार एक मूल प्राकृतिक भूख—पेट की भूख को तृप्त करने के लिए जो कर्म किया जाता है वह समस्त सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है उसे रूप देता है और उसके द्वारा नियन्त्रित होता है।

उसी प्रकार व्यक्ति के छोटे से छोटे कार्य की मीमांसा करके यह देखा जा सकता है कि उसके वे सभी कर्म जो निजी प्राकृतिक भूखों या आवश्यकताओं की तृप्ति या पूर्ति करते हैं वास्तव में व्यक्त रूप में सामाजिक कर्म बन जाते हैं।

व्यक्ति के स्वभाव का सामाजिक अंश दरअसल उसके निजी अंश का ही विकसित रूप है। यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि निजी अंश से सामाजिक अंश का जो विकास होता है उसका स्वरूप क्या है उसका आधार क्या है ?

कहानी है। आदिम युग में जब मनुष्य पशुओं के समान रहता होगा तो वह केवल निजी प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करता रहा होगा। जैसे-जैसे मनुष्य में विवेक का उदय हुआ, मस्तिष्क का विकास हुआ, उत्पादन के नये साधनों का ज्ञान और उनकी व्यवस्था हुई, वैसे ही वैसे उसके निजी श्रम का सामाजीकरण होता चला गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस विकास का रूप मानव सभ्यता की अवस्था के अनुरूप ही होगा।

साहित्य और कला का उदय तब हुआ जब मानव सभ्यता काफी विकास कर चुकी थी। इसीलिए कला का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से जीवन की मूल प्रेरणा के साथ स्थापित नहीं किया जा सकता। कला का जन्म उस समय हुआ जब मूल मानव वृत्तियों के ऊपर विवेक का उदय हो चुका था। इतना ही नहीं, विवेक के माध्यम से विविध वृत्तियों का संस्कार हो रहा था और मानव पशु-जीवन के स्तर से ऊपर उठ चुका था। जिन्हें हम साहित्य में स्थायी भाव कहते हैं, आज उनका मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया जा रहा है और यह माना जा रहा है कि स्थायी भाव वास्तव में कोई इकाई नहीं है वरन् अनेक मूल मानव-वृत्तियों की समष्टि है। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि चेतना के विकास की प्रक्रिया का एक आयाम है विविध वृत्तियों के सम्मिलित रूप का उद्भव जिसे रति आदि भाव के रूप में स्वीकार किया गया। यही वह अवस्था है जब काव्य आदि कलाओं के आरम्भिक—आदिम नहीं—रूप का विकास हुआ होगा।

पहले यह दिखाने की कोशिश की जा चुकी है कि मानव के उन कर्मों का भी सामाजिक आयाम होता है जिनका उद्देश्य सबसे आदि मूल वृत्तियों की तुष्टि है। यह भी स्पष्ट है कि जब मानव सभ्यता के इस स्तर पर पहुँचा होगा जबकि स्थायी भावों की सजगता उत्पन्न हुई होगी तो स्थायी भावों की तृप्ति का मार्ग भी सामाजिकता के बीच ही अग्रसर होता रहा होगा। आज तक रति आदि स्थायी भावों की तृप्ति निजी होते हुए भी सामाजिकता की व्यवस्था या अव्यवस्था को छूती है। उसका समाज पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है। कहीं वह हल्का होता है कहीं गहरा। यह बात तृप्ति के क्रम के विविध आयामों और सन्दर्भों पर निर्भर करता है।

अब देखना यह है कि जब स्थायी भावों आदि की अभिव्यक्ति साहित्य के रूप में होती है तो उसके सन्दर्भ का स्वरूप क्या होता है। आज की आलोचना की स्थिति देखते हुए स्पष्ट है कि एक धारा इस सन्दर्भ की सामाजिकता को स्वीकार करती है और दूसरी धारा उस सामाजिकता को बिलकुल अस्वीकार करती है। बात सिर्फ यहीं तक नहीं है। नयी विचारधारा का एक रूप तो साहित्य के प्रसंग में स्थायी भाव, आनन्द, रस आदि की सत्ता का ही अस्वीकार करता है। इसलिए इस प्रश्न पर सावधानी से विचार होना चाहिए।

पहले यह कहा जा चुका है कि व्यक्ति के वे सब कर्म जो निजी कहे या समझे जाते हैं वास्तव में सामाजिकता से अछूते नहीं होते। सच तो यह है कि निजीपन कर्म की प्रक्रिया में पड़कर सामाजिकता की लपेट में आ जाता है। इसलिए निजीपन और सामाजिकता को जोड़ने वाला कड़ा है कर्म। कर्म ही वह माध्यम है जिसमें निजता और सामाजिकता का मिलन बिन्दु स्थित है। सामाजिकता कर्म के अवगुंठन में लिपटा हुआ स्वार्थ ही है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। जो स्वार्थ और सामाजिकता दोनों में तटस्थ हो जाता है या जो दोनों में से किसी एक के चक्कर में पड़कर घूमने लगता है, उसे दोनों अलग-अलग दिखायी देते हैं या दोनों में विरोध दिखायी देता है या दोनों में से सिर्फ एक ही दिखायी देता है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य भ्रान्ति का भी प्रचार हो रहा है। भाव और विचार दोनों को दो विरोधी तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया जाता है। इनका अलगाव तात्त्विक तथा विरोध स्वाभाविक समझा जाता है। इसलिए या तो रचना भाववादी मानी जाती है या विचारवादी या बौद्धिक। आज के बौद्धिक युग में भाववादी काव्यधारा का कोई महत्त्व नहीं माना जाता और उसे मरा हुआ मान लिया जाता है। लेकिन यह भी एक भ्रान्त धारणा है। यह भ्रान्ति केवल काव्य या आलोचना के क्षेत्र की नहीं है वरन और भी गहरी है। उस गहराई तक जाने की कोशिश नहीं की जाती। नतीजा यह होता है कि न तो समस्या को ठीक से समझा जाता है और न ही समाधान को ठोस आधार पर रखा जा सकता है। और आलोचना एक संगत व्यवस्था न बनकर उक्तियों तथा वक्तव्यों का जमघट बन जाती है। आज की अधिकांश आलोचना वक्तव्यों का जमघट ही है। और उसका एक मुख्य कारण यह है कि आलोचना को जीवन से अलग करके रखा जाता है।

पश्चिम में आधुनिक काल में जो दर्शन का विकास हुआ उसमें पहली धारा बुद्धिवादी धारा थी और उस धारा के दार्शनिक बुद्धिवादी माने जाते हैं। उसकी प्रतिक्रिया हुई और बर्गसां आदि ने बुद्धिवाद का विरोध किया और भाववाद की प्रतिष्ठा की। इस ऐतिहासिक सन्दर्भ के भ्रम में पड़कर बुद्धि और हृदय विचार और भाव में द्वन्द्व तथा विरोध माना जाने लगा।

सचाई तो यह है कि भाव और विचार दो अलग अलग तत्त्व हैं ही नहीं। वे कोई हवाई सत्ताएँ नहीं हैं। वे तो एक समग्र परिस्थिति के लक्षण हैं किसी व्यापार या घटना के अविभाज्य अंग हैं। बिना उस समग्र परिस्थिति के न तो भाव की कोई सत्ता है और न ही विचार की। दोनों संयुक्त रूप से परिस्थिति को विशिष्ट करते हैं। यह तो हो सकता है कि कोई परिस्थिति भाव प्रधान हो और कोई विचार प्रधान। लेकिन ऐसा तो सम्भव ही नहीं

है कि किसी परिस्थिति में विशुद्ध भाव हो और किसी में विशुद्ध विचार। या कोई परिस्थिति पूर्णतः भावशून्य हो और कोई पूर्णतः विचारशून्य। बिना विचार के भाव अन्धा है। बिना भाव के विचार अपाहिज है। दोनों ही स्थितियाँ आकाश-कुसुम के समान हैं और सामान्य जीवन में दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है।

मूल बात तो यह है कि चाहे भाव हो चाहे विचार दोनों का आधार परिस्थिति होती है। वे परिस्थिति से भिन्न कोई तथ्य नहीं हैं। इसलिए भाव तथा विचार पक्ष के सम्बन्ध पर विचार करने के लिए हम उनके आधार के सन्दर्भ का ध्यान रखना चाहिए। इसी सन्दर्भ में इन पर विचार हो सकता है। अगर सन्दर्भ से कटकर विचार किया जायगा तो भ्रान्त समस्याएँ तथा और भी भ्रान्त समाधान सामने आने लगेंगे। इसलिए भाव और विचार के स्वरूप तथा आयामों पर विचार करने के लिए गहरे विवेचन की आवश्यकता है। और इस सूक्ष्म विवेचन का सगत आधार है परिस्थिति जो कि भाव या विचार को रूप देती है।

इस विवेचन के विरोध में यह कहा जा सकता है कि दर्शन में तो तर्क की प्रधानता होती है। वहाँ भाव के लिए कहाँ अवकाश है? जो व्यक्ति भारतीय दार्शनिक परम्परा को समझता है उसके लिए इस प्रश्न का उत्तर पाना कठिन नहीं होगा। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

यह तो सभी जानते हैं कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद दर्शन का वह रूप है जिसमें ज्ञान ही प्रमुख है। यहाँ तक कि उसमें भक्ति को भी माया ही माना गया है। सवाल उठता है कि क्या अद्वैतवाद सचमुच भावशून्य है? वास्तव में ऐसा नहीं है। भाव का होना जरूरी है। बिना भाव के अद्वैत का ज्ञानमात्र व्यर्थ है। यह तो वाक्य ज्ञान है और वाक्य ज्ञान हर कोई प्राप्त कर सकता है। वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई। इसीलिए शंकराचार्य ने भी कहा है कि जब ब्रह्म ज्ञान का अनुभव में अवसान होगा, तभी मोक्ष की सिद्धि होगी—अनुभवावसानत्वात ब्रह्मज्ञानस्य। अब विचार कीजिए कि यह अनुभव क्या है? यह अनुभव तभी होगा जब कि विचार का ध्यान किया जायगा, उस पर निष्ठा होगी, उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध होगा, जब उस अनुभूति को या भाव का विषय बनाया जायेगा। बिना अनुभूति के अद्वैत ज्ञान व्यर्थ है। इसलिए विचार अपने अत्यन्त शुष्क और नीरस रूप में भी तभी सार्थक हो सकता है जब उसके प्रति रागात्मक समर्पण होगा। बिना इस राग बन्ध के विचार व्यर्थ है। इसलिए विचार तभी सिद्ध होगा जब उसके साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जायगा। यही विचार का भावात्मक सम्बन्ध है।

सभी भाव या तो आसक्तिमूलक होते हैं या विरक्तिमूलक। जहाँ आसक्ति

या विरक्ति का सम्बन्ध होगा वहा भाव की स्थिति मानी जायगी। एक बात तो स्पष्ट है। आसक्ति या विरक्ति कोई विचार तो है नहीं। वे तो विचार के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ हैं। ऐसी प्रतिक्रियाएँ जो उसकी वृत्तियों को जगाती हैं और जैसी वृत्तियाँ होती है उनके अनुरूप ही विचार में आसक्ति या विचार में विरक्ति होती है। आसक्ति या विरक्ति ही विचार के भावात्मक सम्बन्ध है जो उस व्यक्ति की चेतना के दायरे से बांधते हैं।

एक ऐसी स्थिति की सत्ता भी मानी जाती है जो आसक्ति और विरक्ति के स्तर से ऊंचा है। गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ की स्थिति ऐसी स्थिति कही जा सकती है जहा दुःख में मन उद्विग्न नहीं होता सुख में स्पृहा नहीं होती और जो स्थिति राग, भय और क्रोध से अतीत है। लेकिन यह स्थिति भी अनुभूति शून्य नहीं है। यहाँ भी आसक्ति है। यह आसक्ति उस उच्च स्थिति के प्रति है जो स्थितप्रज्ञ की अवस्था है और जहाँ ईश्वर के प्रति निष्ठा और श्रद्धा है। विचार तभी सार्थक हो सकता है जब कि उसके प्रति कोई रागात्मक सम्बन्ध हो।

पश्चिम का दर्शन प्राय बौद्धिक खिलवाड के रूप में रहा। वह प्राय साधना से शून्य हुआ करता था। इसलिए साधना के अभाव ने विचार और भाव के द्वैत और संघर्ष के लिए अनुकूल भूमि उपस्थित कर दी।

इसी प्रकार विशुद्ध भाव की भी कोई स्थिति नहीं हो सकती। भाव किसी परिस्थिति में उत्पन्न होता है और भाव की सत्ता परिस्थिति की संगति पर आधारित होती है। परिस्थिति का एक रूप होता है एक योजना होती है एक व्यवस्था होती है जिसमें संगति होती है जो विचार के अनुकूल होती है जो बुद्धि के लिए अन्वित होती है। रति क्रोध आदि भाव वहीं उदित होते हैं जहाँ एक क्रमबद्ध संगत परिस्थिति है। यदि इस परिस्थिति में संगति नहीं है यदि वह विचार की असंगति है तो वहाँ भाव की स्थिति सम्भव नहीं है। जब काव्यशास्त्र में भाव को या इसको परिस्थिति से शून्य करके देखने की प्रवृत्ति हुई वहा से यह भ्रान्ति आरम्भ हुई जो आज भाव और विचार के संघर्ष के रूप में दिखायी देती है। एक बार जब परिस्थिति का धरातल हटा दिया गया तो भाव बर्फ़ेद सा हो गया। इस बर्फ़ेद के भाव पर आक्षेपों का होना स्वाभाविक था उसका विरोध भी स्वाभाविक था और उसकी अस्वीकृति भी अनिवार्य थी।

बर्फ़ेद के भाव की एक दूसरी प्रतिक्रिया भी हुई जो पश्चिम में दिखायी देती है। विशुद्ध भाव की कविता का आधार ऐसा ही भाव है जिसका अपना तला गायब है।

चरित्र के व्यक्तित्व में भी भाव और विचार इसी संपृक्त रूप में उत्पन्न होते हैं। वे एक ओर तो परिस्थिति में संपृक्त होते हैं दूसरी ओर परस्पर

सम्बद्ध होते हैं। न उन्हें परिस्थिति से अलग करके देखा जा सकता है और न ही उन्हें एक-दूसरे से बिलकुल अलग करके रखा जा सकता है।

एक दृष्टि से कवि का व्यक्तित्व ही काव्य का आधार प्रतीत होता है। इसलिए काव्य में भाव और विचार दोनों संपृक्त रूप में ही आते हैं। काव्य वास्तव में विशुद्ध भाव या विशुद्ध विचार का वर्णन नहीं करता। वह तो एक परिस्थिति को स्थापित करता है। भाव और विचार इसी परिस्थिति से संयुक्त रहते हैं। इसलिए काव्य का आधार परिस्थिति है भाव या विचार नहीं। भाव या विचार दोनों में से किसी एक पर बल देने का मतलब यह होगा कि काव्य में परिस्थिति के महत्त्व की अवहेलना होगी। मगर यह तो एक तथ्य है कि काव्य का आधार परिस्थिति है। यह एक सत्य और मूल्य भी है। क्योंकि बिना इसकी सिद्धि के काव्य का रूप ही नहीं बनता। जब-जब काव्य में परिस्थिति के स्थान पर भाव या विचार को महत्त्व दिया गया, तब तब भ्रान्तियाँ पैदा हुई और चिन्तन पथभ्रष्ट हुआ। विचार और भाव का मूल परिस्थिति है और इसलिए जैसे ही हम काव्य के सन्दर्भ में भाव या विचार की चर्चा करते हैं हम उस परिस्थिति को भी स्वीकार करते हैं जो उनका आधार है। आवश्यकता इस बात की है कि इस परिस्थिति को पूरी सजगता और गहराई के साथ स्वीकार किया जाए, उसे समझा जाए और इस स्वीकृति तथा समझ के धरातल पर रखकर काव्य को देखा और परखा जाए।

अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो 'काव्य का आधार व्यक्तित्व है' और काव्य का आधार परिस्थिति है। इन दोनों उक्तियों का अर्थ एक ही है। इनमें जो भेद दिखायी देता है उसका कारण यह है कि हम काव्य को दो दृष्टियों से देख रहे हैं। एक कवि के व्यक्तित्व की दृष्टि से, द्वितीय प्रकृति की सत्ता की दृष्टि से। कवि की साधना के माध्यम में व्यक्तित्व और प्रकृति दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि कवि कर्म के प्रवाह में दोनों एक हो जाते हैं।

मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व का निर्माण दो तत्त्वों से होता है—एक दाय, द्वितीय वातावरण। दाय के बारे में बुनियादी विरोध भी है क्योंकि कुछ विचारक इस बात को बिलकुल स्वीकार नहीं करते कि व्यक्ति को जन्म से ही माता पिता के कुछ संस्कार प्राप्त होते हैं। मगर एक बात स्पष्ट है। व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण का महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ के लिए यह बात बुनियादी महत्त्व की है। क्योंकि उससे यह सिद्ध है कि व्यक्तित्व वातावरण—या जिसका दूसरा नाम सामाजिकता भी है—की एक कृति है। मगर व्यक्तित्व एक जड़ कृति नहीं है। वह तो एक चेतन संवेदनशील, गत्यात्मक कृति है। इस चेतनता, संवेदनशीलता और गत्यात्मकता में ही

कृतित्व उस व्यक्तित्व का कृतित्व स्थापित होता है। कला व्यक्तित्व का ही कृतित्व है। व्यक्तित्व वातावरण की कृति है और कला व्यक्तित्व की कृति है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कला कृति की कृति है। एक स्तर पर वातावरण कृतिकार है और व्यक्तित्व कृति है, दूसरे स्तर पर व्यक्तित्व कृतिकार है और कला कृति है।

इस प्रकार कृतित्व के भी दो रूप हुए।

कृतित्व का एक रूप तो वह है जो वातावरण या सामाजिकता और व्यक्तित्व के बीच का व्यापार है और दूसरा रूप वह है जो व्यक्तित्व और कला के बीच का व्यापार है। एक का धरातल सामाजिकता है और फल व्यक्तित्व है दूसरे का धरातल व्यक्तित्व है और फल कला है।

अब सवाल उठता है व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों की प्रकृति का। क्या इन दोनों रूपों की प्रकृति समान है?

आज तक चिन्तन के क्षेत्र में जो विकास हुआ है उसे देखते हुए इस प्रश्न का पूरा-पूरा उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ, कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

पहली बात तो यह है कि कृतित्व के इन दोनों रूपों के आरम्भ और अन्त आधार और फल का अन्तर है। इसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

दूसरी बात यह है कि सामाजिकता, व्यक्तित्व और कला तीनों ही चेतन सत्ताएँ हैं। वह व्यापार जो सामाजिकता और व्यक्तित्व के बीच संचरण करता है वह भी दो चेतन सत्ताओं को मिलाता है और वह व्यापार जो व्यक्तित्व और कला के छोरों को जोड़ता है वह भी दो चेतन निर्मितियों के बीच क्रियाशील होता है। इसलिए कृतित्व के ये दोनों ही रूप चेतन व्यापार हैं।

यह समझ लेना चाहिए कि चेतन से क्या अभिप्राय है। जो गत्यात्मक है, जो संवेदनशील और प्रभावशाली है वह चेतन है। चेतन सिर्फ अपने भीतर ही केन्द्रित नहीं रहता। वह स्थाणु नहीं है। जो प्रभाव डालने की शक्ति रखता है वह चेतन कहा जाएगा। जिसकी सत्ता अपने भीतर ही सीमित है, जो बाहर की ओर अग्रसर नहीं होता, जो किसी दूसरे का स्पर्श नहीं करता वह चेतन नहीं है। इस दृष्टि से सारे प्राकृतिक रूप और व्यापार भी चेतन हैं क्योंकि वे गत्यात्मक हैं और प्रभावशाली हैं। इसी दृष्टि से वातावरण या सामाजिकता को भी चेतन कहा गया है क्योंकि कला के क्षेत्र में वह गत्यात्मक है, प्रभावशाली है और संवेदनशील है।

पुराने चिन्तन में जड़ और चेतन का जो भेद है वह इस प्रसंग में मान्य नहीं है। क्योंकि व्यवहार में व्यक्ति की चेतना पदार्थ को भी, जो पुरानी मान्यता में जड़ कहा जाता था, चेतन बना देती है। इसलिए कलाकार

अपनी कृति में जिन परिस्थितियों या तथ्यों का चित्रण करता है वे जड़ नहीं होते। कलाकार वास्तव में तथ्य का नहीं, तथ्य की भावना या प्रतीति का चित्रण करता है। यही बुनियादी तत्त्व है प्रतीति। प्रतीति तथ्य का चेतन रूप है, तथ्य का वह रूप है जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व का अंश समाहित है। व्यक्ति के चेतन अंश और तथ्य के सम्मिलित सन्तुलन का नाम ही 'प्रतीति' है। इस सम्मिलित सन्तुलन में द्वैत नहीं है। प्रतीति तो एक इकाई है। तथ्य की वस्तुपरक सत्ता का भान और उस भान की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया दोनों मिलकर जिस इकाई की निर्मिति करते हैं वही तथ्य की प्रतीति है।

उदाहरण के लिए 'बीती विभावरी जाग री' में प्रसाद जी ने उषा का चित्रण नहीं किया। यह गीत जो उषा की प्रतीति की अभिव्यक्ति करता है। उषा स्वयं तो एक तथ्य है। कवि ने उषा को एक विशिष्ट रूप में देखा है। उषा एक परिस्थिति है। लेकिन कवि में इस तथ्य ने विशिष्ट प्रतिक्रिया जगायी। वह प्रतिक्रिया उषा तथ्य में सम्मिलित होकर एक विशिष्ट रूप या प्रतीति को जन्म देती है। यह प्रतीति 'उषा' नहीं वरन 'उषा-नागरी' है जिसके साथ कवि की अनुभूतियाँ सम्पृक्त हैं। इसलिए इस गीत में हमें जो विद्यमान दिखायी देता है वह उषा नहीं, उषा की प्रतीति है, उषा की वह भावना है जो कवि की कृति है। इसीलिए यह भावना या प्रतीति एक अखण्ड, अविभाज्य सत्ता है और इसीलिए अलंकार काव्य का बहिरंग तत्त्व नहीं है। अलंकार्य और अलंकार का भेद काव्य की भ्रान्त धारणा पर आधारित है।

काव्य तथा कला में वर्णित प्रत्यक्ष तथ्य या परिस्थिति का यथार्थ स्वरूप ऐसा ही होता है। वह तथ्य या परिस्थिति न होकर तथ्य या परिस्थिति की प्रतीति होता है। यह प्रतीति परिस्थिति और व्यक्तित्व की अखण्ड समष्टि है, अविभाज्य अटूट सत्ता है। इसलिए एक दृष्टि से जिसे परिस्थिति कहा जाता है वही दूसरी दृष्टि से व्यक्तित्व है। यही काव्य का स्वभाव है।

काव्य के स्वभाव की दृष्टि से देखते हुए यह स्पष्ट है कि कवि-कर्म मूल में एक सामाजिक कर्म है। यदि केवल व्यक्तित्व के बिन्दु से चिन्तन आरम्भ किया जाय तो काव्य कवि की कृति है। प्रथम कृति व्यक्तित्व है। और यह एक सामाजिक कृति है यह मनोविज्ञान से सिद्ध है। इसलिए काव्य एक ऐसी कृति है जो सामाजिक कृति की सन्तति है। इसलिए उसमें सामाजिकता संस्कार रूप में ही विद्यमान होती है।

प्रत्येक व्यक्तित्व में सामाजिकता का तत्त्व होता है। इस सामाजिकता के तत्त्व के स्वरूप में भेद हो सकता है, विरोध भी हो सकता है, लेकिन किसी भी व्यक्तित्व में सामाजिकता का अभाव नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा कहता है और आजकल कुछ कवि और लेखक भी ऐसा कहते हैं तो वह काव्य

क स्वभाव को उसके मूल रूप म नही समझना या समझन की कोशिश नही करता। जब तक काव्य और कलाएँ व्यक्तित्व पर आधारित हैं, तब तक उनम सामाजिकता स्वाभाविक विशेषता के रूप म विद्यमान होगी।

यदि काव्य पर व्यक्तित्व और परिस्थिति के माध्यम से देखा जाय तो भी यही निष्कर्ष निकलता है। काव्य म परिस्थिति का जड प्रतिपादन नही होता। उसम तो परिस्थिति की भावना प्रतिपादित होती है और यह भावना व्यक्तित्व और सामाजिकता की सतुलित एकान्विति है। यह स्थिति ऐसी है जो काव्य म न तो सामाजिकता का निषेध करती है और न व्यक्तित्व का। जिस प्रकार सामाजिकता काव्य का स्वभाव है उसी प्रकार निजता भी काव्य का स्वभाव है। लेकिन इसस यह न समझना चाहिए कि काव्य का स्वभाव द्विविध है। काव्य का स्वभाव तो प्रतीति है। और प्रतीति इकाई है। इसलिए सामाजिकता और निजता दोनो का अटूट सम्मिलन या अविच्छिन्न सन्तुलन यही काव्य का स्वभाव है।

काव्य के विवेचन के प्रसग म हम दो विरोधी सी उक्तिया दिखायी देती हैं। पहली है काव्य म सामाजिकता होनी चाहिए दूसरी है 'काव्य मे व्यक्तित्व ही प्रधान तत्त्व होना चाहिए। पहली उक्ति के अनुसार सामाजिकता काव्य का मूल्य है दूसरी उक्ति के अनुसार व्यक्तित्व—समाज निरपेक्ष रूप म भी—काव्य का मूल्य है। वास्तव म य दोनो ही पक्तियाँ गलत हैं। दोनो ही मूल्य त्याज्य हैं।

असली और बुनियादी बात तो यह है कि सामाजिकता और व्यक्तित्व दोनो ही काव्य के तथ्य हैं काव्य की स्वभावगत विशेषताएँ हैं। जो यह कहता है कि काव्य म सामाजिकता मूल्य है या समाज निरपेक्ष व्यक्तित्व मूल्य है वह काव्य के स्वभाव को नही समझता। क्योकि काव्य के स्वभाव को समझ लेने के बाद तो इन मूल्यो की चर्चा ही बेकार हो जाती है। यहाँ तो जो स्वभाव है जो विद्यमान है वही मूल्य भी है। काव्य के स्वभाव के इस विवेचन स स्पष्ट है कि काव्य व्यक्ति का सामाजिक कर्म है। उसम व्यक्तित्व और सामाजिकता दोनो का अभिन्न सामरस्य जन्म स ही सिद्ध रहता है।

जब से टी० एस० इलियट ने यह कहा है कि काव्य व्यक्तित्व स पलायन है तब स इस सिद्धान्त की चर्चा हिन्दी म भी सुनायी पडने लगी है। विदेशो स प्रभाव ग्रहण करना गर्हित नही होता। लेकिन प्रभावित होने से पहले यह तो देख लेना चाहिए कि जो बात किसी विदेशी ने कही है वह सगत भी है या नहीं। यदि इस भावना स उक्त सिद्धान्त पर विचार किया जाता तो मालूम हो जाता कि यह असगत है सिर्फ शब्दो का खिलवाड है। आलोचना के नाम पर शब्दो का इस प्रकार का खिलवाड अक्सर दिखायी देता है और सम्भवत

सभी भाषाओं में होगा। जिस वाक्य में इलियट ने व्यक्तित्व से पलायन की बात कही है वहां यह भी कहा है कि कविता "अनुभव और संवेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम है। यहां यह सवाल पैदा होता है कि काव्य किसके अनुभव और संवेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम है? वे अनुभव और संवेदन किसके हैं? यदि वे कवि के हैं तो फिर काव्य के माध्यम से व्यक्तित्व से पलायन तो नहीं हुआ! यह तो व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहलाता है। और अगर वे अनुभव आदि कवि के नहीं हैं तो फिर किसके हो सकते हैं? आलोचक के? पाठक के? किसी के भी नहीं?

यह तो स्पष्ट है कि काव्य व्यक्ति का सामाजिक कर्म है। यह एक तथ्य का कथन है, किसी आदर्श की स्थापना नहीं। यह तो काव्य का स्वभाव भी है और मूल्य भी। अब सवाल आता है काव्य के रूप का।

काव्य का एक विशिष्ट रूप है। जिस प्रकार व्यक्ति के अन्य सामाजिक कर्मों का अपना अपना खास रूप हुआ करता है उसी प्रकार काव्य का भी अपना विशेष रूप है। अक्सर यह कहा जाता है कि यदि काव्य का उद्देश्य सामाजिक उन्नति है, तो फिर वह उपदेश बन जाता है। यह बात बिलकुल गलत है। अपने अपने ढंग से सभी ज्ञान-साधनाएँ सामाजिक उन्नति में सहायक होती हैं। वनस्पतिशास्त्र भी यही करता है, भौतिक विज्ञान का भी यही उद्देश्य है और अर्थशास्त्र का भी यही आदर्श है। मगर क्या सामाजिक उन्नति का साधन होने के कारण ये सब विषय उपदेश बन जाते हैं?

इसी प्रकार अगर यह कहा जाय कि साहित्य से सामाजिक उन्नति होती है या हो सकती है तो इससे साहित्य उपदेश नहीं बन जाता। जिस प्रकार अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान आदि का अपना विशिष्ट रूप है विशिष्ट पद्धति और व्यवस्था है उसी प्रकार काव्य की भी अपनी रीति है अपनी पद्धति व्यवस्था और रचना प्रक्रिया है। जिस प्रकार व्यक्तित्व और सामाजिकता काव्य के स्वभाव की विशेषताएँ हैं उसी प्रकार उसका एक विशिष्ट रूप भी होता है। यह भी काव्य का सहज स्वाभाविक लक्षण है। इससे किसी सूरत में इन्कार नहीं किया जा सकता। नाटक, कविता कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी का अपना-अपना रूप है अपना-अपना शिल्प है। इन सबके अपने अपने नियम हैं जिनका सम्बन्ध पद रचना वस्तु योजना चरित्र, लय, छन्द, उद्देश्य आदि से है। ये बातें तो इतनी स्पष्ट हैं कि इन पर अधिक विचार करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार यह निश्चय किया जा सकता है कि कोई रचना अर्थशास्त्र की है या नहीं, उसी प्रकार यह भी निश्चय किया जा सकता है कि कोई रचना काव्य है या अकाव्य। इस सम्बन्ध में थोड़ी-सी कठिनाई यह है कि काव्य की कई कोटियाँ मानी जाती हैं और

की सामग्री में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस पर विचार करने से एक अन्य समस्या पर भी प्रकाश पड़ता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि कवि का दायित्व सिर्फ शब्द के प्रति है और बस। यह जो शब्दवादी सिद्धान्त है उसे भी संगत रूप में समझना आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि शब्द केवल अक्षरों की समष्टि ही नहीं है वरन उसका अर्थ भी होता है। काव्य में केवल शब्दों का ही व्यवहार नहीं होता वरन सार्थक शब्दों का व्यवहार होता है। यदि कोई अर्थ को शब्द में ही समाहित करके देखता है और शब्द का प्रयोग समाहित अर्थ के लिए भी करता है तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। चाहे कोई शब्द कहे चाहे सार्थक शब्द कहे चाहे शब्द और अर्थ कहे बात एक ही है। लेकिन अगर कोई अर्थ निरपेक्ष शब्द की बात करता है या शब्द और अर्थ दोनों को अलग-अलग मानता है तो ये दोनों ही मान्यताएँ भ्रान्त हैं। क्योंकि अर्थ निरपेक्ष शब्द तो हो ही नहीं सकता और न ही शब्द और अर्थ दो अलग अलग तत्त्व हैं। जो ध्वनियों के समूह को ही शब्द मानता है उसके लिए पशुओं और मनुष्यों के शब्दों या भाषाओं में अन्तर करने का कोई आधार या कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। शब्द ध्वनियों का ऐसा समूह है जो सार्थक है। इसलिए शब्द का अर्थ यहाँ सार्थक शब्द ही है।

इससे यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति यह मानता है कि कवि का दायित्व केवल शब्द के प्रति है वह इससे इन्कार नहीं करता कि कवि का दायित्व अर्थ के प्रति भी है। क्योंकि बिना अर्थ के शब्द की कोई सत्ता ही नहीं। अर्थ के प्रति कवि का दायित्व स्वीकार करने से अनेक ऐसी समस्याएँ निराधार हो जाती हैं जो एक अजीब असंगत गम्भीरता का विषय बनी हुई हैं।

शब्द के महत्त्व वाली बात कोई नयी बात नहीं है। महाभाष्यकार पतंजलि ने कहा है— एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति। एक सुप्रयुक्त और सम्यग्ज्ञात शब्द स्वर्ग तथा लोक में कामधेनु ही है। शब्द निरपेक्ष भाव से कोई मानी नहीं रखता। जब उसका सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग होता है तभी सिद्धि मिलती है। इसलिए केवल शब्द-साधना निरर्थक है। वास्तविक शब्द-साधना का अर्थ है शब्द के सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग की साधना। ज्ञान और प्रयोग के सम्बन्धों से हटाकर शब्द को देखना बिलकुल असंगत है।

इसलिए जब यह कहा जाता है कि कवि-कर्म का रूप शब्द-साधना है तो उसका सही और स्वाभाविक भाव यही है कि कवि कर्म के दो आयाम हैं—एक शब्द का सम्यक् ज्ञान दूसरा उसका सम्यक् प्रयोग। ज्ञान के महत्त्व का अर्थ अर्थ का महत्त्व ही है क्योंकि शब्द का सम्यक् ज्ञान उसकी अर्थ शक्ति का ही ज्ञान है। यहाँ मूल सवाल है सम्यक् का क्या अर्थ है?

जहाँ तक ज्ञान का सवाल है 'सम्यक' का अर्थ समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती। क्योंकि व्याकरण, कोष आदि के आधार पर शब्द का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कवि-कर्म के अन्तर्गत सम्यक का अर्थ बहुत विस्तृत हो जाता है क्योंकि यहाँ अभिधा ही नहीं, लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग भी होता है। इसलिए कवि कर्म की दृष्टि से सम्यक ज्ञान पूर्णतः वस्तुपरक नहीं है वह ध्वनिपरक भी है। ध्वनिपरक ज्ञान का अर्थ यह है कि कवि की भावना और शक्ति के स्पर्श से शब्द अर्थ का साक्षात संकेत ही नहीं कराता, अर्थ को ध्वनित भी करता है। यहाँ हम शब्द के दूसरे आयाम सम्यक प्रयोग पर आ जाते हैं। सम्यक प्रयोग का समझने के लिए एक ओर कवि की शक्ति के धरातल का स्वीकार करना आवश्यक है और दूसरी ओर पाठक की प्रतिक्रिया पर ध्यान देना भी ज़रूरी है। कुछ तो प्रयोग के शास्त्रीय नियम हैं। लेकिन कवि और पाठक की सभाओं की मर्यादा की स्वीकृति से सम्यक प्रयोग के अर्थ को समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है।

यह स्पष्ट है कि कोई भी लेखक यह दावा नहीं कर सकता कि उसका दायित्व केवल शब्द के प्रति है। सच तो यह है कि लेखक का दायित्व शब्द और अर्थ दोनों के प्रति है, और तुल्य रूप से है। जो दोनों में से किसी एक को प्रधान मानता है वह इस भ्रम का शिकार है कि शब्द और अर्थ दो सत्ताएँ हैं।

भामह ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य माना है। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों सहित रूप में, तुल्य रूप में आते हैं। इसलिए भामह का काव्य लक्षण एकमात्र आदर्श और ग्राह्य काव्य लक्षण है। पंडितराज ने जो शब्द और अर्थ दोनों की स्वीकृति का खण्डन किया है वह संगत नहीं है। इस असंगति का कारण यह है कि वे शब्द और अर्थ को तात्त्विक रूप से भिन्न सत्ताएँ मानकर चलते हैं। यह स्थिति तर्क-सम्मत नहीं है। उनके तर्कों का आधार भी शब्दों का प्रयोग है, शब्दों का सम्यक प्रयोग नहीं। इसलिए सामान्य व्यक्ति की सामान्य उक्तियों के आधार पर उन्होंने अपने विशिष्ट मत की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। सामान्य शब्द प्रयोग के आधार पर भी तर्कशास्त्र का एक रूप आधारित है। उसकी मूल असंगति भी यही है कि वह अपना दायित्व केवल शब्द के प्रति मानता है।

जब कवियों ने यह कहा कि उनका दायित्व शब्द के प्रति है तो कुछ कवियों ने जो काव्य के बारे में टिप्पणियाँ लिखी हैं उन्हें और तथाकथित आलोचकों के लेखों को पढ़ने में यह प्रतीत होता है कि वे भी अपना दायित्व केवल शब्द के प्रति, अर्थ निरपेक्ष शब्द के प्रति मानते हैं।

शब्दों के प्रयोग में असावधानी एक ऐसा दोष है जो आज के हिन्दी के लेखों में व्यापक रूप में पाया जाता है। सुन्दर, श्रेष्ठ, संवेदनशील, उत्कृष्ट

महान, गौरवशाली, अथ की लय आदि एस शन्द है जिनका प्रयोग प्राय बडी असावधानी के साथ किया जाता है बिना सोचे समझे किया जाता है। उदाहरण के लिए 'श्रेष्ठ' शब्द को हा लीजिए। रामचरितमानस' भी 'श्रेष्ठ काय है, सूरसागर भी 'श्रेष्ठ काव्य है और कामायनी भी 'श्रेष्ठ काय है। लेकिन क्या तीनो का श्रेष्ठ एक ही है ? क्या तीनो म कोइ अन्तर नही ? स्पष्ट है कि तीनो के 'श्रेष्ठ म बहुत अन्तर है। यही बात सभी 'मूल्यवाची शब्दो के प्रयोग के बारे म है। इसलिए उचित यही है कि लेखक मूल्यवाची *शब्दो की व्याख्या करन के उपरान्त उनका प्रयोग करे अथवा* उनका प्रयोग नहा किया जाना चाहिए। भाषा के प्रयोग म बहुत अधिक सावधानी और सतकता की आवश्यकता है।

आलोचना की भाषा का प्रधान आधार अभिधा है। उसम लक्षणा और व्यजना का प्रयाग वर्जित नही है। प्रसगानुसार अनुकूल ध्वनि या प्रभाव क लिए इन शक्तियो का उपयोग भी किया जा सकता है। मगर उनका प्रयोग सीमित और विशिष्ट ही है। प्रधान रूप स आलोचना वाचक शब्दो के आधार पर चलनी चाहिए। इसीलिए आलोचना को रचना के धरातल तक ले जाना बहुत कठिन है।

दूसरी बात यह है कि आलोचना की शब्दावली म कुछ मूल शब्द होते है जिनका सम्बन्ध मूल्यो या प्रत्ययो स हाता है। आलोचक का पहला काय यह है कि वह इन शब्दो का शब्द रूप म ही ग्रहण न कर बल्कि उनके अर्थों को समझे और समझाये। बिना मूल शब्दो के अथ को पूरी तरह से समझे हुए जो कुछ लिखा जायगा वह आलोचना क अन्तगत नही माना जायेगा।

जब आलोचक इन मूल शब्दो क अथ को पूरी तरह स समझने का प्रयास करेगा तो उस यह अनुभव होगा कि इस काम के लिए उस अन्य विषयो की शरण म जाना पडेगा। इस प्रकार दशनशास्त्र नीतिशास्त्र समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र आदि के प्रत्ययो को व्यक्त करनवाले शब्दो को पूरी तरह समझने के लिए इन विषयो की सहायता लेना अनिवाय है। यदि आलोचक शब्दो का प्रयोग समझदारी के साथ करन लगें तो बहुत सी समस्याए और विवाद अपन आप निराधार हो जायेंगे।

नयी आलोचना म यह प्रयास किया जाता है कि काय को कवि-मन और अध्ययन म अलग करके रखा जाय। इसम यह देखन का प्रयास किया *नहीं जाता कि कविता की रचना करते समय कवि के मन की क्या स्थिति* था। रचना का पाठक पर क्या प्रभाव पडता है उसका भी कोई महत्त्व नहा है। मुख्य काय तो यह है कि जो कृति हमारे सामन है उसकी विशेषताओ का उद्घाटन किया जाये। इस प्रकार यह काव्य का एक विशिष्ट अध्ययन है जा

रचना प्रक्रिया और पाठक की प्रतिक्रिया दोनों का निषेध करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह अध्ययन एकांगी और अपूर्ण है। यही कारण है कि इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर जिन सिद्धान्तों या निर्णयों की चर्चा की जाती है वे एकांगी, अपूर्ण और अर्द्धसत्य हैं। उनको मूल और समग्र सत्य मान बैठने में भ्रान्तियों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

उक्त प्रकार के अध्ययन से एक लाभ तो अवश्य हुआ। काव्यवस्तु की सत्ता को अपरिमित महत्त्व मिला और काव्य की बारीकियों को समझने का एक प्रयास हुआ। नयी आलोचना का आधार काव्य या वस्तुपरक अध्ययन ही है।

काव्य का वस्तुपरक अध्ययन बिलकुल नयी बात नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापकों—वामन और कुन्तक ने काव्य का शुद्ध वस्तुपरक रीति से अध्ययन किया है। वामन ने जिन शब्द गुणों और अर्थगुणों की चर्चा की है वे नयी आलोचना की सम्पत्ति भी हैं।

रीति सिद्धान्त के अंतर्गत दो प्रकार के गुणों की चर्चा की गयी है—शब्द गुण और अर्थ गुण। शब्द गुणों का जो विवेचन है वह आज की भाषा के विवेचन की रीति के अनुरूप ही है। भाषा या शब्द शिल्प का जैसा विवेचन नयी आलोचना में दिखायी देता है, कुछ वैसा ही विवेचन वामन ने शब्द गुणों के अंतर्गत किया है। उदाहरण के लिए ओज शब्द गुण का लक्षण है गाढ़बंधत्व, समाधि शब्द गुण में आरोह अवरोह क्रम रहता है समता शब्द गुण में पद एकरस होते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य के शब्दों के, उनकी योजना तथा नाद-सौन्दर्य आदि के सूक्ष्म विवेचन का प्रयास किया था।

इसी प्रकार कुन्तक ने वर्ण-वक्रता पद पूर्वार्द्ध वक्रता और पद परार्द्ध वक्रता में वर्णों, उपसर्गों और शब्दों के सौंदर्य या चमत्कार या वैशिष्ट्य के विवेचन का प्रयास किया है।

अब रहा विषय का सवाल।

आज काव्य के बारे में जितने भी विचार दिखायी देते हैं उन सबका आधार आज की जीवन-व्यवस्था है। यहां तक कि जो जीवन और मूल्यों के निषेध की बात भी करते हैं उनका आधार भी सामाजिक स्थिति ही है। या यों कहिए कि सामाजिक स्थिति और उसकी विशिष्ट प्रतिक्रिया जो सजग मन में होती है वे ही काव्य सम्बन्धी विविध मतों के रूप में सामने आती हैं। इसलिए काव्य के बारे में प्रस्तुत किये गये सभी विचारों को और विशेषकर इधर के नये विचारों को सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध करके ही देखने से सही दिशाएं सामने आ सकती हैं।

इस प्रकार के विवेचन के मार्ग में एक बड़ी दिक्कत है। कुछ विचारक काव्य को काव्य के रूप में सिर्फ काव्य के रूप में देखने के हामी हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि काव्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और यदि उसका विवेचन करते समय काव्यतर विषय की चर्चा की जायेगी तो यह काव्य के साथ अन्याय होगा। उनके विचार में पुराने ज़माने में काव्य के साथ न्याय नहीं हुआ। काव्य चिन्तकों ने काव्य को अन्य विषयों के साथ सम्बद्ध करके देखा और इसलिए वे काव्य के निजी स्वरूप को समझने में असमर्थ रहे। इसीलिए काव्य तथा काव्य विचार का सहज विकास बाधित रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि पुराने आचार्यों ने काव्य पर विचार करते समय उसे लोक के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। भरत ने लोकवृत्त के अनुकरण की बात की है और उधर प्लेटो तथा अरस्तू ने काव्य को प्रकृति की अनुकृति माना है। इस प्रकार काव्य पर विचार करते समय सबसे पहली बात जो सामने आती है वह है लोक का महत्त्व लोकवृत्त या आदर्श गणराज्य की सत्ता। इसलिए यह सम्भावना हो सकती है कि काव्य के निजी रूप के विवेचन की ओर अपेक्षित ध्यान न दिया जा सके।

पश्चिम में तो ऐसा हुआ भी। प्लेटो ने जो कहा कि काव्य प्रकृति की अनुकृति है तो इस बात को कोई अस्वीकार न कर सका। अरस्तू ने भी काव्य को अनुकृति ही माना। अन्तर यह है कि प्लेटो का विवेचन मूल सत्ता या मूल शक्ति से शुरू होता है और अरस्तू का विवेचन दृश्य सृष्टि से। सत्य क्या है? अरस्तू इस पर विचार नहीं करते। वह इस बात को आवश्यक ही नहीं मानते।

लेकिन अगर ध्यान से देखा जाय तो प्लेटो के विवेचन में संगति अधिक है। उनका विवेचन बुनियादी धरातल से आरम्भ होता है। उन्होंने जड़ को पकड़ने की कोशिश की है जबकि अरस्तू उस गहराई तक नहीं जाते। उस गहराई तक जाना ज़रूरी ही नहीं समझते। इतना ही नहीं उन्होंने बुनियादी सच्चाई की बात ही नहीं की उसकी चर्चा तक नहीं की। यह बात अजीब-सी लगती है। खास तौर पर जब अरस्तू से पहले काव्य पर बुनियादी दृष्टि से विचार हो चुका था तो अरस्तू को इस प्रयास के बारे में कुछ कहना चाहिए था। वह उसे स्वीकार न करते उसका विरोध ही करते मगर काव्य के मूलभूत विवेचन की प्रक्रिया के बारे में कुछ तो कहते। कारण यह है कि अरस्तू सूक्ष्म प्रिय नहीं थे और यही उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है।

अरस्तू की इस स्थूलता ने शताब्दियों तक पश्चिम पर राज किया है। लांगिनुस की सूक्ष्मता भी उपेक्षित ही रही। इसका कारण यह है कि मध्यकाल में पश्चिम का चिंतन स्थूल धरातल पर ही रहा है। उसमें सूक्ष्मता और गहराई नहीं है। वह ऊपरी धरातल पर ही कार्यशील है। धार्मिक सत्ता की

सूक्ष्मता व्यवहार से जीवन में कटी रही। यही कारण है कि साहित्य रचना और साहित्य चिन्तन में सूक्ष्मता बहुत देर से आया। पश्चिम में काव्य और आलोचना में गहराई तभी आयी जब उस पर नये सिरे से बुनियादी तौर पर सोचा विचारा गया। और इस सीमा का श्रेय अरस्तू को है।

अगर अरस्तू की बजाय प्लेटो और लांगिनुस वाली धारा आगे बढ़ती तो स्थिति दूसरी होती। प्लेटो की दृष्टि अरस्तू की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और उपयोगी है। इसी आधुनिक काल में जब पश्चिम में नये सिरे से सोचने की शक्ति का जन्म हुआ तो। विचार ही महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली सिद्ध हुए जो उस सूक्ष्म और बुनियादी दृष्टि पर आधारित थे जो प्लेटो में मिलती है।

भारतीय परम्परा में काव्य और शास्त्र के विकास का आधार भिन्न रहा। सबसे पहले तो भरत ने ही यह कहा कि नाट्यशास्त्र का निर्माण चारों वेदों के आधार पर हुआ है। चारों वेद समग्र जीवन के प्रतीक और प्रतिनिधि रहे हैं। इसलिए नाटक समग्र जीवन के साथ सम्बद्ध है ऐसी मान्यता नाट्यशास्त्र में व्यक्त है। भरत ने लोकवृत्त के अनुकरण पर भी बल दिया है। इसलिए भारतवर्ष में न सिर्फ नाटक का जन्म जीवन के बीच हुआ, वरन् नाट्यशास्त्र में नाटक के इस सामाजिक आधार की स्पष्ट स्वीकृति भी दिखायी देती है।

भरत ने लोक के महत्त्व को स्वीकार तो किया, मगर नाटक की सत्ता को शिल्प के मूल्यों का अस्वीकार नहीं किया। नाट्य शिल्प पर भी उन्होंने पूरा पूरा ध्यान दिया और विस्तार से नाटक के विविध अंगों उपांगों का विवेचन किया। लेकिन भरत की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा नाटक की आत्मा—रस की प्रतिष्ठा है। उन्होंने बिना रस के नाटक को निरर्थक माना है। लेकिन असल महत्त्व इस बात का नहीं है। वास्तविक महत्त्व तो इस बात का है कि रस है क्या?

भरत के इस सिद्धान्त के साथ हिन्दी में अन्याय होता आया है। भरत का रस सहृदय सापेक्ष नहीं है वह सहृदय के आस्वाद का वस्तुगत मूल्य है। उसकी सत्ता तो नाटक के रूप में है। रस एक निर्मिति है, एक सृष्टि है जो नाट्य में स्थित है। इसलिए रस नाटक का शिल्पगत मूल्य है। इस रूप में भरत ने नाटक का महत्त्व लोक पर नहीं शिल्पगत मूल्य पर, रस पर आश्रित माना है। रस ही नाटक को सार्थक बनाता है।

भामह दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य के शिल्पगत मूल्यों—अलंकारों का विवेचन किया है। उनका ध्यान लोक की अपेक्षा शिल्प पर अधिक केन्द्रित रहा। इसलिए उन्होंने काव्य के रूप और उसके विविध घटक तत्त्वों की व्याख्या का प्रयास किया। अलंकारवादियों का चिन्तन—भामह से कुन्तक

तक का चिंतन रूपात्मक आलोचना के अंतर्गत ही आता है। इन मनकी दृष्टि काव्य के रूप पर केंद्रित है काव्य के वशिष्ट्य व उद्घाटन का प्रयास करती है।

लेकिन उनमें लाव की उपभा नहीं हुई। भरत ने तो बाद म धर्म, अर्थ और काम तीनों की सिद्धि मानी थी। भामह एक कदम और आगे बढ़े और उन्होंने मोक्ष का भी इसमें जोड़ दिया। इस प्रकार काव्य समग्र जीवन का ही प्रतीक बन गया। जो जीवन के पुरुषार्थ थे व ही काव्य मे भी स्वीकार कर लिये गये। इस धारा के एक छोर पर भामह हैं तो दूसरे छोर पर विश्वनाथ। बीच के रसवादी आचार्यों ने रस पर अधिक बल दिया। लेकिन विश्वनाथ ने रस के साथ-साथ चतुर्वर्ग को भी स्वीकार किया और इस प्रकार रस को आत्मा के रूप म स्वीकार करते हुए भी काव्य को समग्र जीवन के प्रतीक के रूप म स्वीकार किया।

इन सभी आचार्यों के ग्रंथों के अध्ययन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र म काव्य शिल्प और जीवन को व्यापक सम्बद्ध संतुलित रूप म स्वीकार करने का प्रयास किया गया। एक तरफ तो वर्ण से लेकर महाकाव्य तक काव्य के सूक्ष्मतम अंग से लेकर स्थूलतम अंग की विशेषताओं की मीमांसा की गयी और दूसरी ओर चतुर्वर्ग और रस के रूप म समस्त जीवन का लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों रूपों म स्वीकार किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रयास अपनी सूक्ष्मता म अद्वितीय और व्यापकता म अप्रतिम होने के कारण कितना चमत्कारपूर्ण है, इसे वही समझ सकता है जिसने भारतीय काव्यशास्त्र को पढ़ने और समझने की कोशिश की हो।

आज हिन्दी म एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति दिखायी देती है। बहुत से लोगों ने प्राचीन को पढ़ने की कोशिश हो न हो की लेकिन प्राचीन के खण्डन म व सब से आगे हैं। मैं यह नहीं मानता कि प्राचीन का खण्डन नहीं करना चाहिए। लेकिन बिना पढ़े बिना समझे खण्डन करने म क्या तुक है यह समझ में नहीं आता। अगर उसे कोई समझता हो तो बताने की कृपा कर।

रस का विरोध करते हुए लोग उसके आत्मवादी आधार को चुनौती देते हैं। ठीक है। मगर रस के बारे म अन्य मत भी तो हैं। इसका नाटक का, काव्य का एक शिल्पगत मूल्य भी तो माना गया है। इस बात से चौंकने की जरूरत नहीं। जरूरत है कुछ पढ़ने की।

भट्टनायक और अभिनव ने रस की आत्मवादी व्याख्या की। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया। हिन्दी-आलोचना का परिचय रस की इसी धारा से रहा। लेकिन रस की एक

पूर्ववर्ती धारा भी है जिसमें रस को शिल्पगत एक तत्त्व या अलंकार माना गया है।

एक सवाल सामने आता है। क्या रस और चतुर्वर्ग दोनों को एक साथ स्वीकार किया जा सकता है?

आचार्यों ने दोनों को एक साथ स्वीकार तो किया है मगर दोनों को तुल्य महत्त्व का नहीं माना। विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना है। मम्मट और पंडितराज ने चतुर्वर्ग का उल्लेख ही नहीं किया। इसलिए इस समस्या पर सावधानी से विचार करना चाहिए।

भट्टनायक आदि आचार्यों ने रस को ब्रह्मानन्द सहोदर माना और उसके भोग पक्ष को ही विवेचन का केन्द्र बनाया। उनकी दृष्टि सहृदय में केन्द्रित रही। इसलिए उन्होंने रस के आस्वाद का सूक्ष्म विश्लेषण किया और उसी को मूलभूत मूल्य के रूप में स्वीकार किया।

लेकिन उसी आत्मवादी रस पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। रस एक सृष्टि भी है और आखिर रस की सृष्टि करनेवाला भी आत्मा है—कवि की आत्मा। इसलिए रस आत्मा की पुनर्सृष्टि है। इस प्रकार रस आत्मा की वह पुनर्सृष्टि है जो काव्य के माध्यम से सहृदय में व्यक्त होती है। काव्य आत्मा की मूल एकता को व्यक्त करने का साधन है। वर्ड्सवर्थ ने तो काव्य को मानव स्वभाव की मूल एकता का व्यंजक माना था। लेकिन उनका मानव स्वभाव मन के धरातल तक ही पहुँचता है। अभिनव ने आत्मा को मानव-स्वभाव के रूप में स्वीकार किया है। आत्मा मूल रूप से एक और अखण्ड है। काव्य मानव के आत्मभाव को व्यक्त करता है। इस सिद्धि के लिए पहली आवश्यकता तो यह है कि कवि आत्मभाव में स्थित हो। जब तक वह इस धरातल का साक्षात् अनुभव नहीं करेगा तब तक वह उसे व्यक्त करने में भी सफल नहीं हो सकता। सहृदय के रत्यादि आवरणों के भग्न करने की शक्ति से सम्पन्न काव्य की रचना करने से पहले कवि को रत्यादि के अतिरिक्त अन्य सभी आवरणों का उच्छिन्न करना होगा। कवि के आत्मभाव की सिद्धि आत्मवादियों के रस विवेचन में अन्तर्भूत ही समझनी चाहिए।

रस रत्यादि के माध्यम से व्यक्त ब्रह्मानन्द है। इस बात को स्वीकार करने के साथ-साथ रस को ब्रह्मानन्द के तुल्य रूप में स्वीकार करने का लोभ भी दिखायी देता है। अगर ध्यान से देखा जाय तो यह सचमुच लोभ ही है। कारण यह है कि जहाँ रत्यादि स्थायी भाव हैं जहाँ सत्त्वगुण के बंधन को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है जहाँ रजस तथा तमस को उच्छिन्न नहीं तिरोभूत माना जाता है ऐसी अवस्था ब्रह्मानन्द के तुल्य कैसे मानी जा सकती है? स्पष्ट है आत्मवादियों की यह मान्यता असंगत और अस्वीकार्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि चतुर्वर्ग और रस का एक साथ स्वीकार करने का आधार क्या है। जब यह मान लिया गया कि रस आत्मानन्द ही है तो मोक्ष की सिद्धि से इसका साम्य स्पष्ट है। इसलिए रस की स्वीकृति में मोक्ष की स्वीकृति का आभास मिलता है। रहा धर्म अर्थ और काम, तो उसकी सिद्धि की चर्चा काव्यशास्त्रियों ने की ही है। काव्य द्वारा मोक्ष की सिद्धि ही कठिन थी। सो रस द्वारा सहज हो गयी। अब समस्या तो यह उठती है कि भामह ने किस आधार पर मोक्ष का स्वीकार किया था ?

रस सिद्धान्त को व्यापक यथार्थ दृष्टि से परीक्षण करने से दो महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं।

पहली तो यह कि प्राचीन भारत में काव्य चिन्तन जीवन तथा संस्कृति की समग्रता के बीच ही विकसित हुआ था। जब धर्म आदि प्रधान मूल्य थे तो काव्य में उनकी प्रतिष्ठा हुई। जब आत्मा या ब्रह्म को परममूल्य के रूप में स्वीकार किया गया तो यह प्रयास हुआ कि काव्य को भी उससे सम्बद्ध किया जाय। आठवीं शती में शंकराचार्य ने ब्रह्म को परम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया और फिर उसके प्रभाव से शैवों ने दर्शन के साथ-साथ काव्य में भी ब्रह्मास्वाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। वह काव्य जो भरत के युग में लौकिक रचना के रूप में स्वीकृत था—क्योंकि तब युग चेतना इसी धरातल पर आसीन था—भट्टनायक और अभिनव आदि का लोकोत्तर कला के रूप में स्वीकृत हुआ यह तत्कालीन युग चेतना के अनुरूप ही था। भरत ने नाटक को लोक से सम्बद्ध किया भट्टनायक आदि ने आत्मा तथा ब्रह्म से। जो पहले लौकिक था वही अलौकिक माना जाने लगा। काव्य वही था। उसकी व्याख्या और मूल्या में अन्तर आ गया। इसलिए जो लोक का था वह कुछ विशिष्ट लोगों की सम्पत्ति बन गया। जो लोकगत सत्ता थी वह वर्गगत सत्ता बन गयी।

सैद्धान्तिक रूप से यह बात सत्य है मगर इसका व्यावहारिक परिणाम भिन्न हुआ भिन्न नहीं विपरीत हुआ।

निवृत्ति और ज्ञानवाद के प्रभाव से सामान्य जनता लोक से विरक्त हो रही थी। लौकिकता पर विश्वास टूटता जा रहा था। क्षणिकवाद दुःखवाद, शून्यवाद अन्तवाद आदि के प्रभाव से यथार्थ लौकिक जीवन और उसके मूल्यों पर अनास्था हो रही थी। लोक को माया कहकर वह सभी कुछ हीन माना जाने लगा जो लौकिक था। सामान्य समाज में यह हीनता व्याप्त हो रही थी।

आत्मवादी आचार्यों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि जीवन का जो परम मूल्य है उसकी प्राप्ति काव्य के द्वारा भी हो सकती है। सिद्धान्त की दृष्टि से भट्टनायक आदि नाद की रसयता पर विश्वास करते थे। इस प्रकार से उनका